1961 NO:1

❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

1961
NO1

वर्ष ५ अंक १

Year 5 Number 1

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मंडल
काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) एक अंक १)

प्रकाशकः—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट, शाहजहाँपुर
उत्तर प्रदेश (इण्डिया)

विषय सूची:—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादक की बात		२
३—भजन	चरन दास	३
४—अध्यात्म (क्रमा गत)	समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी फ़तेहगढ़	४
५—फ़तेहगढ़ के लाला की याद आ रही है	श्री हरीश चन्द्र श्रीवास्तव शाहाबादी	८
६—गुरु और शिष्य का आदर्श	श्रीराम चन्द्र जी अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	६
७—राम मिलन के काज सखी मोहे आरति उर में जागी री	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	१४
८—साधना में प्रेम और सुरति का महत्व	श्री दुर्गाशंकर अवस्थी	२५
९—भगवत्-शरण स्तोत्र	श्री ब्रह्मानन्द	३२
10—Spiritual Advancement	Shri Ram Chandra ji President S. R. C. M.	33
11-The Power of Thought	Shri Raghavendra Rao	38
12-Talks On Shri Babu ji's Commentary on Ten Commandments of Sahaj Marga Commandment VII & VIII	Dr. K. C. Varadachari	44
13-Contribution of Sahaj Marga to modern life	Shri Suresh Chandra Srivastava	54
14-My Experiences in the Mission	Km. Kesar Chaturvedi	62

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो)

वर्ष ५ | शाकाब्द १८८३, सं० २०१८विक्रमी | अङ्क १

Year 5 | Year 1961 | No. 1

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य–जीवन का ध्येय है ।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

संपादक की बातः—

अपने पाठकों की सत्कामना और सहानुभूति तथा समर्थ सदगुरू के स्नेहाशीष का सम्बल ले कर हमारी 'सहज मार्ग' पत्रिका इस अंक के साथ अपने प्रकाशन के पाँचवें वर्ष में पदार्पण कर रही है। इसे अनन्त परम शक्ति से चिरायु होने का वरदान प्राप्त हो, और इस की सम्पन्नता में निरन्तर वृद्धि होती रहे।

इस अंक में स्थायी स्तम्भों के अतिरिक्त मुख्यतः वह सामग्री प्रस्तुत की जा रही है, जो इस वर्ष के हमारे श्री रामचन्द्र मिशन के वार्षिक वसन्तोत्सव के शुभ अवसर पर लेखों, भाषणों, कविताओं आदि के रूप में प्राप्त हुई। ऐसी सारी सामग्री कदाचित् इस एक अंक में न आ सके, अतः जो कुछ शेष रह जायेगा, अगले अंक में प्रस्तुत किया जायेगा।

इस अंक के साथ पत्रिका की स्थायी विषय-वस्तु में भी कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं। सम्पादकीय लेखों की माला जिस उद्देश्य से प्रारम्भ की गई थी, उस की न्यूनाधिक पूर्ति के साथ अब सम्पादकीय लेख के स्थान पर केवल पत्रिका और मिशन से सम्बन्धित आवश्यक वक्तव्य मात्र 'सम्पादक की बात' शीर्षक के अन्तर्गत रहा करेगा। इस के अतिरिक्त कुछ सत्संगी भाइयों के निर्देशानुसार 'अनन्त यात्रा' शीर्षक स्थायी स्तम्भ के अन्तर्गत समर्थ सदगुरू श्रद्धेय श्री 'बाबूजी' के साथ एक श्रेष्ठ और संवेदनशील अभ्यासी के पत्रव्यवहार का क्रमशः प्रकाशन बन्द किया जा रहा है। यदि सम्भव हो सका तो यह पत्र-व्यवहार, जिस में लगभग एक हजार पत्र संग्रहीत हैं, कभी पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा सकेगा।

'सहज मार्ग' पत्रिका के सहृदय ग्राहकों और पाठकों से हमारी प्रार्थना है कि आर्थिक और विषय-वस्तु की दृष्टि से इस पत्रिका को आत्म-निर्भर और सम्पन्न बनाने के लिए अपनी अमूल्य सहायता और सुझाव भेज कर हमें अनुग्रहीत करते रहें।

पत्रिका के ग्राहकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि करने के लिए जो महानुभाव प्रयत्नशील रहे हैं, वह सभी लोग धन्यवाद के पात्र हैं। इन महानुभावों में हमारे सेरम (गुलबर्गा) केन्द्र के प्रशिक्षक श्री अयल रेड्डी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

अपने विज्ञ और सहृदय पाठकों से हम अपनी त्रुटियों के लिए करबद्ध क्षमा प्रार्थी हैं।

—सम्पादक

॥ भजन ॥

साधो निंदक मित्र हमारा।
निंदकों निकटे ही राखों, होन न देउं नियारा ॥१॥
पाछे निंदा करि अघ धोवै, सुनि मन मिटै विकारा।
जैसे सोना तापि अगिन में, निरमल करै सोनारा ॥२॥
घन अहरन कसि हीरा निबटै, कीमत लच्छ हजारा।
ऐसे जाँचत दुष्ट संतकूँ, करन जगत उजियारा ॥३॥
जोग-जग्य जप पाप कटन हितु, करै सकल संसारा।
बिन करनी मम करम कठिन सब, मेटै निंदक प्यारा ४
सुखी रहो निंदक जग माँहीं, रोग न हो तन सारा।
हमारो निंदा करनेवाला, उतरै भवनिधि पारा ॥५॥
निंदक के चरनोंकी अस्तुति, भाखौं बरंबारा।
चरनदास कहैं सुनियो साधो, निंदक साधक भारा ६

—चरनदास

अध्यात्म

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फ़तेहगढ़)

(सहज मार्ग वर्ष ४ अंक ३ में प्रकाशित लेख से आगे)

कौन सा अज्ञानी है जो जाग्रत का व्यवहार करता हुआ सुषुप्ति में नहीं जाता ! और कौन सा ज्ञानी है जो सुषुप्ति में ही हमेशा रहता हुआ जाग्रत में वापस न आता हो ! अभिप्राय यह है कि आकुञ्चन[1] और प्रसरण[2] दोनों का ही होता है। हाँ, इतना अन्तर है कि जब अनेकता है तो एकत्व नहीं, और जब एकत्व है तो अनेकता नहीं। लेकिन उत्थान अर्थात् वाज़गश्त[3] दोनों को है। गोता लगाने वाला मन को साध कर पानी में कुछ देर के लिए ठहरता है, पानी उस को फिर उछाल कर बाहर या ऊपर फेंक देता है। दोनों ही गोता खाते रहते हैं। हाँ, एक थोड़ा संभला हुआ है, दूसरा संभला हुआ नहीं है। केवल अनेकता और एकत्व का अन्तर है। और यह अन्तर इस तरह पर है कि शारीरिकता के क्षेत्र में अनेकता है—एक व्यक्ति का शरीर दूसरे वैयक्तिक शरीर के समान नहीं है, और न सब की जाग्रत-अवस्था अर्थात् शारीरिकता की दशा में एकसानियत है: सब अलग अलग नज़र आते हैं। किन्तु सुषुप्ति में रूहानियत की हालत में एकत्व की दशा है—वहाँ सब एकसाँ हो जाते हैं: राजा, प्रजा अमीर, गरीब, सम्राट, फकीर सब एक हो जाते हैं। शरीर में शारीरिक मनुष्य की दृष्टि शरीर, शरीर के अङ्गों, इन्द्रियों आदि सब पर रहती है। रूह (आत्मा) में रूहानी आदमी की दृष्टि केवल रूह पर रहती है। किन्तु दृष्टि, दृष्टा, दृश्य की तिहरी[4] दशा नहीं

१- Contraction; २- Expansion ३- Return up
४- Threefold

रहती। जो है वह केवल एक और एक ही है, और उस का वहम व गुमान भी इस हालत में नहीं होता, नहीं तो फिर दोपने[1] का दोष उत्पन्न हो जाता। शरीर में जड़, तना, टहनी, कोंपल, पत्ते, फूल, फल सभी रहते हैं, और फूल के अन्दर बीज गिलाफों[2] की तह में छुपे पड़े रहते है। रूह में केवल बीज ही बीज है, और इस बीज के बाहर ऊपर जड़, तना, टहनी, कोंपल, पत्ते, फूल, फल आदि ढके, मंढे, लिपटे और सिमटे रहते हैं। रूह से जिस्म और जिस्म से रूह का हमेशा विकास और अभिव्यक्ति हुआ करती है, जिस प्रकार बीज से पेड़ और पेड़ से बीज की पैदाइश का क्रम अविराम गति से चलता रहता है।

अज्ञानी तो पेड़ के पत्ते, फूल, फल आदि को गिनता हुआ फल खाता है, और नहीं भी खाता, और ज्ञानी इन सब विवरणों की ओर से दृष्टि हटा कर केवल फल खाने का शौकीन बनता है। अज्ञानी पढ़ा लिखा, विद्वान और पंडित—उस के हाथ गीता लगी, वह उस की जाँच पड़ताल करता है कि इसका लिखने वाला कौन है इत्यादि।

मन की वास्तव में तीन कैफियतें हैं, (१) मूढ़; (२) चंचल; और (३) अज्ञानी। और यह तीन पर्दों की वजह से हैं। तीन पर्दे तीन शरीर या जिस्म हैं। (१) एक ओर तो स्थूल देह अर्थात् इन्द्रियों और अंगों वाला शरीर है जो कि तम, मूढ़ अर्थात् बाह्य रूप से गति-हीन है; वह अन्धेरा है। (२) दूसरा जिस्म रूह है, जिसे कारण शरीर कहते हैं। यह प्रकाशमान है, किन्तु गति (हरकत)[3] इसमें भी नहीं है। यही अज्ञानी दशा का मूल कारण है। (३) तीसरा सूक्ष्म शरीर या मन है, जो इन दोनों के बीच में है। इस में हरकत है। और यही अपनी हरकत से मूढ़ता और अज्ञानता को गति प्रदान करता रहता है।

तीन वृत्त हैं: पहला अज्ञानी, रूह या प्रकाशमान् वृत्त, जिस में नूर, तजल्ली, ज्योति और प्रकाश है, और उस मे यह कैफियत ठोस-पने के साथ है; दूसरा बिल्कुल तारीक है, जिस में जुल्मात, अँधेरा

और तिमिरि है—यह मूढ़ कहलाता है, तीसरा वृत्त प्रकाशमान् और अंधेरा दोनों ही है—इस के ऊपर रोशनी है और नीचे तारीकी है, और वह दोनों ही के अक्स, असर और संस्कारों को लिये हुए है, क्यों कि बीच की हालत में दोनों के प्रभावों का प्रतिबिम्बित होना नितान्त आवश्यक है।

पहला हिस्सा प्रकाश है, दूसरा भाग अंधकार है, और बीच वाला प्रकाश और अंधकार की सम्मिलित दशाओं का जोड़ बन कर कायम है। यह त्रिलोकी त्रिगुणात्मक सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड बिल्कुल इसी शक्ल की है, और जितने जीव-जन्तु, इन्सान, हैवान और फरिश्ते-आकाश या पक्षी के शरीरधारी हैं, सब के सब इसी तरह की कसी और बेशी के साथ बने हुये हैं। एक चींटी या दीमक को देख कर मालूम हो सकता है—यह तीनों ही वृत्त उन के शरीर में तुम को व्यक्त और स्पष्ट रूप में नजर आयें गे।

यद्यपि कायनात (सृष्टि) शब्द गलत है, किन्तु हमारे अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए काफी है। इसे आलमे-कबीर या ब्रह्माण्ड कहते हैं। इस में यह तीनों कैफियतें हैं, और जीव जन्तु आदि जो उसमें रहते हैं, उसी की सूक्ष्मतम नकलें (Miniature Copies) हैं। इन के जिस्म या जिस्मों के योग (Sum Total) को पिंड या आलमे-सगीर कहते हैं। यह पिण्ड ब्रह्माण्ड की नकल है, और सूक्ष्मतम तौर पर (छोटे मोटे रूप में) उसके समस्त गुणों को अपने अन्दर रखता है, जैसा कि अभी चींटी और दीमक के शरीरों का उदाहरण दे कर बताया गया है। पहला प्रकाशमान वृत्त कुतुबे-शुमाली (उत्तरी ध्रुव) या उत्तरखण्ड है, दूसरा अंधेरा वृत्त कुतुबे-जनूबी (दक्षिणी ध्रुव) या दक्षिण खण्ड है। हिन्दू लोग मरने के अतिरिक्त कभी दक्षिण की ओर पैर कर के नहीं सोते हैं।

रोशन वृत्त अज्ञानी (रूहानी, Spiritual), तारीक वृत्त मूढ़ (माद्दी- Material), और सम्मिलित दशाओं का वृत्त दिली, कल्बी, दरमियानी, बरज़खी, चंचल है।

ऊपर रूह (आत्मा) है, नीचे माद्दा (मात्रा-Matter) है, बीच में रूह और माद्दा की सम्मिलित अवस्था है, जो दिल (हृदय) है। (१) दिल मिली जुली हालत का शरीर होने के कारण चूंकि ऊपर नीचे दोनों ही के प्रभावों को ग्रहण करता रहता है, अतः उस में गति आती है, और इसी गति की वजह से वह चंचल कहलाता है। (२) चूँकि सम्मिलित और मध्यवर्ती होने के कारण उस में प्राकृतिक और स्वाभाविक गुण समानता, अनुकूलता, और तद्रूपता (हम-आहंगी) करने का है, इस लिए जब वह नीचे की ओर मुंह करता है, वह वैसा ही बनने लगता है, और चंचल होने के कारण मूढ़ता के साथ साथ उस में मूढ़ कर्म करने की तसीर आ जाती है। तब वह शरीर कर्मी, कर्म काण्डी कहलाता है, और जिस्मानी हो रहता है।
(३) इसी प्रकार जब वह अज्ञान के वृत्त अर्थात् आत्मा के विभाग की ओर (जिस को हम कारण शरीर और अलक्ष जिस्म या बालूती जिस्म कहते चले आ रहे हैं) मुंह करता है, तो उस में रूहानियत आने लगती है, और वह रूहानी हो जाता है। रूह (आत्मा) में अज्ञान है, अतः अज्ञान के साथ, समानता, अनुकूलता और तद्रूपता करने से वह अज्ञानी बन जाता है।

अब रह गई उस की अपनी हालत! इस के विषय में यह याद रखना चाहिये कि चूँकि वह नूर और तारीकी की सम्मिलित अवस्था का योग (Sum) है, अतः जब अपने में स्थित होता है तो दोनों वृत्तों के प्रभावों के कारण गतिशील और चलायमान रहता है। अतः इस विशिष्ट स्थिति में वह चंचल रहता है, और चंचल कहलाता है।

(क्रमशः)

"फ़तेहगढ़ के लाला की याद आ रही है"

(श्री हरीशचन्द्र श्रीवास्तव शाहाबादी)

फ़तेहगढ़ के लाला की याद आ रही है।
फिज़ा पर खमोशी सी कुछ छा रही है॥

—o—

१-अजब मस्त हालत जमाने पे छाई, तवज्जह बरसती है पड़ती दिखाई
खमोशी खमोशी नज़र आ रही है। फतेहगढ़ के लाला.....

२-करम और बख्शिश की आदत तुम्हारी, अता की वो दौलत जोथीतुमकोप्यारी
तड़प बन के दिल में चुभी जा रही है। फतेह.....

३-ग़ाजब की तुम्हारी अजब रहनुमाई, कि लमहों में बरसों की मन्जिल दिखाई
लबों पर तुम्हारी ही याद आ रही है। फतेह.....

४-नकहना नसुनना वह आलम किसी का, वो मन्ज़र जहाँ पर है मन्ज़र उसी का
तबीयत मचलती उधर जा रही है। फतेह.....

५-फतेहगढ़ का था एक दिन क्या जमाना, बसन्त लाया रंगीन उत्सव सुहाना
जनम दिन है लाला की याद आ रही है! फतेह.....

६-हैं बाबू जी अपने मिशन के जो बानी, जहाँ में नहीं कोई भी इनका सानी
दुआ लाला जी की चली आ रही है। फतेह.....

७-थे बिगड़े हज़ारों सँभाला तुम्हीं ने, जो डूबे थे लाखों उबारा तुम्हीं ने
कि बारी 'हरिश' की भी अब आ रही है। फतेह.....

गुरु और शिष्यका आदर्श

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

हम इस शुभ अवसर पर इसलिये जमा हुये हैं कि ऐसी हस्ती का जन्म दिन मनायें जिसका नाम हमेशा सूर्य की भाँति चमकता रहेगा। यह दिन इस मिशन के लिये विशेष महत्व का है। यदि ऐसी बुजुर्ग हस्ती की तारीफ की जाये या घटनायें बयान की जायें तो पन्ने के पन्ने रंग जायें। केवल इतना कह देना काफी है कि उनके एक तुच्छ गुलाम में यदि उनकी कुछ झलक मौजूद है, और आप लोग इतनी थोड़ी मुहब्बत करते हुए भी ईश्वरीय आँच से सिंक रहे हैं, तो गुरु महाराज का अन्दाजा कुछ न कुछ लग ही जावेगा। "ज़र्रा (रज कण) में चमक आफ़ताब (सूर्य) की है।" जिस प्रकार सूर्य की किरणें यह बतला देती हैं कि सूर्य इस समय मौजूद है, उसी प्रकार ज़र्रे की दमक यह बता सकती है कि उसमें आफ़ताब की रोशनी मौजूद है। दूसरे अर्थ में आप लोगों के दिल इस बात के स्वयं गवाह हो सकते हैं कि ज़रूर कुछ न कुछ रोशनी, जैसी कि आफ़ताब के ज़र्रे पर पड़ रही है आप लोगों में भी मौजूद है अब यह आप लोगों की पात्रता रही कि आप लोग खुद ऐसे बन जायें कि अपनी चमक दूसरों में इस प्रकार फैला दें जैसे कि आफ़ताब की रोशनी हर चीज़ को प्रकाशित कर देती है।

अब यह बात कैसे सम्भव हो सकती है? यह बात केवल उसी समय सम्भव हो सकती है जब लोगों का लगाव ऐसे आफ़ताब से हो जावे जो सब को प्रकाशित कर देता है, अर्थात आप अपना सम्बन्ध आफ़ताब से जोड़ लें। हमारे जो कुछ ध्यान अभ्यास आदि होते हैं, सब का यही उद्देश्य होता है कि हमारा सम्बन्ध ईश्वर से जुड़

जावें, और जो चीज़ वहाँ मौजूद है बढ़ती हुई चली आवे। इसी के लिये हम भक्ति भी करते हैं क्योंकि प्रेम से लगाव बहुत जल्दी पैदा होता है। इसके लिये उपाय असंख्य हैं और हर व्यक्ति के लिए नुस्खे अलग अलग। और यह अपनी पवित्र पुस्तकों में मिलते है। जो मनुष्य जिस योग्य है उसके लिये वैसे ही उपाय महात्माओं और बुजुर्गों ने निर्धारित किये है! यह चीज या अभ्यास जो हम सहज मार्ग में कर रहे हैं सबसे ऊंचा और श्रेष्ठ है! इसकी बारीकी जब तक कि काफी उन्नति न हो जाये, समझ में नहीं आती। बाइस साल ध्यान, तल्लीनता और अभ्यास जो कुछ मुझसे हो सके करने के बाद मेरी समझ में आया कि यह चीज़ क्या है। अब मैं इस चीज को किस उपाय से आप लोगों के सामने रक्खूँ और किस प्रकार समझाऊं। गेहूँ का स्वाद केवल ज़ुबान अनुभव कर सकती है, किन्तु ज़ुबान व्यक्त नहीं कर सकती। आगे चल कर यह हालत हो जाती है। फिर भी बहुत कुछ इस दर्शन को खोलने की मैंने पुस्तकों और पत्रों के द्वारा कोशिश की है जहां तक कि मैं उसे खोल सका मेरी तबीयत यही चाहती है कि मुझे जो कुछ थोड़ी बहुत बातें मालूम होती जाती है, सब की सब उगल कर रख दूं। किन्तु यह सब मालिक के हाथ में है, वह जब मेरे लिये ऐसा सामान इकट्ठा कर दे तभी ये सम्भव हो सकता है।

मैं इस लेख में सहज मार्ग दर्शन या अन्य गहरी चीज़ नहीं ला रहा हूँ, बल्कि मतलब की बात सत्संगी भाइयों के लाभ के लिये व्यक्त कर रहा हूँ। और अपना अनुभव, अर्थात् जिस अभ्यास से मुझको लाभ हुआ है वह प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसमें कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनको मैंने कुछ सोच कर सर्व साधारण रूप में व्यक्त करने की कोशिश नहीं की। इसलिये कि उनका मतलब कुछ और ही न समझ लिया जाय। किन्तु विवशता यह है कि यदि इन घटनाओं को न खोला जाय तो कहीं ऐसा न हो कि मेरे साथ चली जायें। मेरा अभिप्राय इस सब बात से यहहै कि लोग धोखे से कहीं मुझ

को गुरू न समझ लें लोगों का अनुभव सिद्ध कर देगा कि मेरा व्यवहार भाई चारे का रहा है और जीवन भर रहेगा। यही हाल मेरे गुरु महाराज का रहा। जीवन भर उन्हें यह ख्याल कभी नहीं आया कि "मैं गुरू हूँ", और न कभी इस प्रकार का व्यवहार रक्खा। हमेशा भाई चारे का तरीका अपनाया, बजाय सेवा लेने के खुद सेवा की। यह केवल उन्हीं की हस्ती थी और अपने ज़माने की वह आप ही मिसाल हैं। इसी विधि से सेवा करने के लिये मैं भी तैनात हुआ। मुझे आप ही के कदम ब कदम चलना है और यही दुआ कि मैं इसमें कामयाब बनूं। मैं ईश्वर को साक्षी रख कर कहता हूँ कि मैंने सिवाय उस आँख के दूसरी आँख नहीं देखी। मुझे ईश्वर से वास्ता न रहा, मैंने तो सब कुछ उन्हीं को समझ लिया था। इश्क हक़ीक़ी के उलझन में मैं कभी न पड़ा, मुझे तो हमेशा इश्क मजाज़ी से ही सरोकार रहा ईश्वर से मिलने की इच्छा मुझे कभी पैदा न हुई और न यह इच्छा हुई कि आवा गमन से रहित होऊँ, और इस वक्त तक यही वास्तविकता है कि सिवाय आप के किसी को, न जाना। जहाँ देखा आप ही का जलवा देखा और सम्भव है कि अब तक मेरा यही हाल हो। कोई पूछे तुमने यह क्यों किया इसका उत्तर केवल मजनूं ही दे सकता है। उसके प्रेम करने के लिये केवल एक लैला ही थी उसको इससे मतलब न था कि लैला काली कलूटी है या बदसूरत, उसे तो प्रेम से मतलब था।

भाई, यह है मेरी रामकहानी। कहने के लिए तो लोग यह कह लेंगे कि मैं गुमराह हो गया, किन्तु मैं यह कहूँगा कि मैंने यह सौदा जुनून (पागलपन) से खरीदा। इस सौदे का खरीदार वही हो सकता है। जिसके दिल में कुछ झलक जुनून की बाकी हो। कोई व्यक्ति दुनिया के लिये दीवाना बनता है और कोई उक्बा (परलोक) का खरीदार। मेरे दिल से दोनों चीजें गायब कीं। निगाह लैला की तरफ थी और मैं सच कहता हूँ मजनू की भाँति दीवाना बना। सिर्फ आपके लिए घूमता रहा, मुझे अगर कुछ फिक्र थी तो सिर्फ

उसी की, और जुनून बढ़ता ही गया। नतीजा यह हुआ कि इसकी तमीज़ (विवेक) भी बाकी न रही कि किसका जुनून था और क्या सौदा !

मैं यही चाहता हूँ कि आप लोग वादिए-एमन (परम सुख की घाटी) की सैर करें और मेरी दुआ भी यही है, यद्यपि मैंने अपने आप तो वादिए-जुनून (पागलपन की घाटी) में ही कदम रखा और उसी की सैर की। भाई, अगर मेरे दिल से पूछो तो यह जुनून ही पुख्तगी (परिपूर्णता) की अलामत (चिन्ह) है, और यह सौदा ही जुनून की मिसाल है और सभी क्रियाएं और ध्यान इसी के लिये हैं। ईश्वर का कोई रूप नहीं, वह सब में प्रकाशित है। अब अगर हम उस का प्रकाश किसी विशिष्ट अस्तित्व में देखते हैं तो नीयत (विचार) यही बनती है कि उसी की बरकत (विभूति) उसमें विद्यमान है। अब यदि किसी में खुले रूप में यह बात मौजूद है तो मैं अपने बचाव में यही कहूँगा कि ऐसे व्यक्ति से प्रेम करने में निगाह स्वयं उस चीज पर पहुँच जायगी जो उसमें प्रकाशित है। किन्तु भाई ऐसे अस्तित्व कम मिलते हैं और वह लोग इससे भी कम जिन के पास केवल पागलपन का सौदा हो। फिर भी कुछ न कुछ सहारा हम सब को लेना ही पड़ता है इसलिये हमको चाहिये कि हम सहारा ऐसे व्यक्ति का लें. जिसमें वह झलक ज्यादा से ज्यादा मिल सके। भड़क तो बहुत जगह मिलेगी मगर झलक कम मिलने वाली वस्तु है। और भाई झलक भी मिलेगी, मगर उससे ऊपर की वस्तु शायद ही कहीं मिल पाये। अब ऐसे व्यक्ति से सम्बन्ध पैदा करने के लिए सको कुछ ही समझ लिया जावे, चाहे भाई, चाहे पिता, और चाहे नौकर या गुलाम। मतलब सिर्फ रिश्ता कायम करने से है, जिससे मोहब्बत का डोरा लग जावे। और यह रिश्ता वास्तविक रूप में उस समय जुड़ा समझना चाहिए जब कि जिस रिश्ते से मोहब्बत की है वह चीज़ भूल जावे और जब रिश्ता की भी

खबर न रहे तब यह समझना चाहिए कि मिलन हुई। जितनी ही अच्छी मिलन होगी उतनी ही अच्छी फैज की रवानी रहेगी; और आई अलगाव (व्यक्तिगत) भी उसी समय पूर्ण होता है जब कि सब पक्ष से मिलन हुए बाद उस पक्ष से जुदा जावे, केवल कर्तव्यपरायणता शेष रह जावे।

परमार्थ (चरित्र) कृतार्थिता (आत्मसिद्धता) की जान है। हम को उस और अग्रसर होना चाहिए, और भी बाह्य आकर्षण और मिलन चरित्र सुधारने के हैं उन पर अमल आवश्यक और अनिवार्य है। मिलन परमार्थ का आदमी इस प्रकार है जैसे वह चन्दन जिस में सुगन्धि न हो। ऐसी दशा में आप उसको लकड़ी ही कहेंगे, चंदन नहीं कह सकते। परन्तु चलना है तो यह सदैव ध्यान रखिये। इस के लिये यहाँ पर नियम बना दिये गये हैं और उन क्रियाएं भी ऐसी बना दी गई हैं जिनसे चरित्र सुधरने में काफी सहायता मिलती है और वह बातें जल्द दूर हो जाती हैं जिनके शिकार अधिकतर लोग साधारणतः रहते हैं।

—बसन्तोत्सव के अवसर पर सन्देश

"'राम'-मिलन के काज सखी मोहे आरति उर में जागी री"

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

वास्तव में भक्ति की अभिव्यंजना जैसी मधुर, अनूठी एवं मर्मस्पर्शी होती है वैसी ही अनुपम, पावन अन्तरवेधिनी, आतुर अंतर की पुकार होती है कि 'राम-मिलन के काज सखी मोहे आरति उर में जागी री'।

कैसी मधुर एवं आतुर अन्तर की पुकार है कोई धैर्य रक्खे भी तो कहाँ तक रक्खे ? कोई संतोष लाये भी तो कैसे और कहाँ से लाये, जबकि आने जाने वाला मार्ग तो हमारा उर ही है और वहाँ पर 'प्रियतम राम' से मिलने की आर्ति जाग ही नहीं उठी वरन् अन्तर में आर्ति की, वेदना एवं विह्वलता की अग्नि लग चुकी है। फिर भला प्रज्वलित अग्नि में से किस माई के लाल का साहस है जो उसमें प्रवेश करके कोई भी सामान बचा ले। दूसरे बाहर की लगी को तो एक बार फिर भी जल के छींटों से बुझाने का कम से कम प्रयास तो किया ही जा सकता है किन्तु उर की लगी तो सब कुछ स्वाहा करके स्वयं अपने 'राम' को पाकर ही शान्त हो सकती है; वरना दूसरा हमारे पास भला उपाय ही क्या है। इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि यह संतोष एवं लाचारी हमारी उन्नति में बाधक हमारी कमजोरी का ही लक्षण है। साँसारिक—दृष्टिकोण से यह कथन एक बार सत्य भी हो सकता है परन्तु आध्यात्मिकता का तो अपना एक अनोखा ही क्षेत्र है। उसमें जहाँ एक ओर तो यह लाचारी है, दूसरी ओर उसमें पग रखना तलवार की धार पै धावना भी है। यद्यपि इस आर्ति अथवा प्रेम रूपी तलवार का गुण भी विलक्षण ही है कि "अखाँ देखी क्राती अति घनी जो

एक से दो करे, बहलोल क्राती प्रेम दी जो दो से एक करे।" अर्थात् हमने देखा है कि तलवार तो काटकर एक से दो टुकड़े कर डालती है परन्तु इस प्रेम रूपी तलवार का गुण काम तो कुछ विचित्र ही है जो दो से एक कर देती है। बस इस दो को एक कर देने वाली पीर ही आरत एवं तड़प के रूप में उर में जन्म लेती है। इतना ही नहीं दृढ़ता एवं धैर्य की असीम अवस्था तब आती है जबकि अपने 'राम' से मिलने की धुन में चलते चलते बेचारा एक समय समत्व के लहराते अविरल एवं सहज—सागर में गहरा चला जाता है और फिर भी न जाने क्यों वह उबरना नहीं चाहता। उबरने के लिए हाथ—पैर नहीं फेंकता। एक दिन उस की वही कमजोरी उसके लिये बाधक न होकर ईश्वरीय शक्ति एवं सामार्थ्य प्रदान करने वाली बन जाती है।

इसका तात्पर्य एवं मुख्य कारण लक्ष्य की श्रेष्ठता है जिससे यही निर्बलता आगे सामर्थ्य की दायिनी बन जाती है क्यों कि जिस महावृक्ष से हम बड़े बड़े हाथियों को बाँधते हैं वह जब नन्हा सा पौधा होता हैं तब भेड़ बकरियों से सुरक्षित रखने के लिये उस के इर्द-गिर्द बाड़ा लगाना पड़ता है और हर प्रकार से उसे सम्भालना पड़ता हैं। इसी प्रकार चिराग को हल्का सा हवा का झोंक लग जाने पर बुझ जाता है है परन्तु वही ज्योति जब जंगल की घास या सूखी पत्तियों या काठ को पकड़ लेती है तो सारे बन को जला देती है। इसी प्रकार जब सामर्थ्य होती है तब जो चीजें पोषक होती हैं वही सामर्थ्य के अभाव में बाधक प्रमाणित सिद्ध (साबित) होती हैं। हमारी यह लाचारी वास्तव में कमजोरी नहीं वरन अपने लक्ष्य में समर्पण की द्योतक होती है। जिस प्रकार बिना positive के negative work नहीं कर सकता अर्थात् घर में बिजली भी है; current भी ले ली जाये किन्तु बिना स्विच ऑन व pluck लगाये न तो हमें विद्युत-प्रकाश मिल सकता है और न हमें उस से सम्बन्धित-पंखे की

इसी ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार श्रेष्ठ लक्ष्य में अपने हृदय—रूपी pluck को बिछाये न हमें परम कारण ईश्वरीय—प्रकाश ही प्राप्त हो सकता है एवं न ईश्वरीय भाव रूपी अन्द अन्द द्वारे खुले रहें अन्तर में अनन्त बहकर हमें दिव्यतम शक्तियों का आनंद ही प्राप्त करा सकती है एवं इसके द्वारा ही प्रियतम 'राम' के मिलन का अवसर मिल सकता है जो हमें निज असीम सुख एवं निज असीम अनन्त—रूप का साक्षात्कार कराने वाला है। कितना सुन्दर एवं सत्य—कथन है कि "कोटी जन्म पर्यन्त तिरछ न बीचो नीर, हंस बिलम्ब कदापि ना, करे नीर खीर।"

इस लाचारी एवं सिसकने में एक विशेषता और भी है कि यदि हम ईश्वर से कुछ माँगते हैं तो जैसे एक बार हमारे परम पूज्य एवं प्रिय 'श्री बाबूजी महाराज' ने जैसा लिखा था कि बादशाह सिकन्दर ने उस भिश्ती से जिसने उसकी जान बचाई थी, इनाम माँगने को कहा तो उसने कहा मुझे अपना राज्य दे दो। बादशाह ने कहा यह तुमने अपनी हैसियत से अधिक माँगा तो उसने कहा मुझे पाँच अशर्फियाँ दे दो। बादशाह ने कहा यह तुमने मेरी हैसियत से कम माँगा अर्थात उसे कुछ न मिला। इसी प्रकार हो सकता है कि हमें भी माँगना न आये और खाली हाथ वापस लौटना पड़े इस लिये 'मालिक' के स्मरण एवं प्रेम, ध्यान जो भी बन पड़े उससे भरे अपने हृदय रूपी आँचल को 'उसके' आगे ही फैला दें 'वह' चाहे जो लेते चाहें जो देदे किन्तु नहीं; हमें तो अपना मन की गागर में अपने प्यारे ईश्वर को, सद्गुरु को ही पैठा लेना है जिस किसी भी प्रकार बस यही हमारी पूजा है। इसके अतिरिक्त दूसरी तो चाह ही मन में न उठे, कोई दूसरा ध्यान लाने पर भी हृदय में न आवे। जिस मन एवं दृष्टि में 'राम' से मिलने की मोहनी एवं मधुर बान पड़ जाती है उसके अन्तर चक्षु खुल जाते है और धीरे धीरे उसका भी पसारा हो जाता है क्यों कि जहाँ पर अन्य विचारों

का बन्धन नहीं वहाँ फिर क्या है ? केवल पसारा ही पसारा। किंतु उस पसारे में उसका मैं' सम्मिलित नहीं होता। फिर तो कुल पृथ्वी उसका अपना ही कुटुम्ब हो जाती है एवं उसे सभी से सहज-स्नेह होता है एवं उसके व्यवहार में उसकी ही पावन—प्रतिछाहीं झलकती है और वह अबोध शिशु की भाँति इस बात को भी भूला सा बिसरा सा ही फिरता है। एक ओर तो वह प्रेम की सजीव प्रतिमा ही होता है, दूसरी ओर उसका हृदय पवित्र एवं सुदृढ़-वैराग्य का मानों स्वरूप ही हो जाता है क्यों कि उसका लक्ष्य तो अपने 'राम' के चिरन्तन रूप में लयलीन रहना ही हो जाता है। तो फिर उसे राग कहाँ, वैराग्य कहाँ, संसार कहाँ और शरीर कहाँ ? उसके तो जन्म-जन्मान्तरों से एकत्रित संस्कार आँतरिक-दृष्टि की स्थिरता के कारण आ आकर परम लक्ष्य प्रियतम ईश्वर में स्वतः ही समाते चले जाते हैं। तब वास्तव में संसार-कार्यों का ही नहीं वरन् प्रेम, भक्ति एवं उसकी उस आर्ति या विह्वलता का भी कर्त्ता कोई और ही हो जाता है जिसे उसने अपने अन्तर में परम लक्ष्य मान कर स्थापित कर लिया है। स्वयं वह प्रथम तो केवल साक्षी रूप में साथ आता है फिर साक्षी रूप मे भी उसका पता नहीं मिलता है। सच ही उसकी आँखों में लोनी लग जाती है जो उसकी ज्योति को वास्तविक-ज्योति पुञ्ज में समा जाने को विवश कर देती है और उसे कहना ही पड़ता है:—

"सन्मुख मेघ मयूर है, सन्मुख चन्द्र-चकोर,
मैं इतना ऊँचा उठा, गया दृष्टि से दूर।।"

उसके हृदय का एकतारा इसी मौन संगीत से (पर) थिरक उठता है कि:—'कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्ह-मय, हिय में न जानि परै कान्ह हैं कि प्रान हैं'। कहते हैं कि एकबार क्रोध में बावला राणा कर में नंगी तलवार लिए आया और बोला "बोल 'मीरा' तू अभी अभी किससे बोल रही थी, तेरे सामने कौन था, तेरे साथ

कौन था ? शीघ्र ही बता नहीं तो तेरे "टुकड़े कर डालूंगा"। वह प्रेम की सुदृढ़ मूर्त मुस्काई और बोली :—"राणा मेरे सामने वाला तो अन्तर में समा गया और साथ वाला तेरे सामने ही बैठा है। कर दो टुकड़े यदि तुम कर सकते हो। राणा, मोम के टुकड़े तो तुम नहीं कर सकते क्योंकि वह तो गिरधर के अन्दर समाई हुई है और गिरधर के टुकड़े भी कदाचित न कर सकोगे क्योंकि वह तो मेरे में, तेरे में, इस तलवार में सर्वत्र ही तो समाया हुआ है।" लाचार राणा लौट गया और मन्दिर में कोई मधुर-स्वर-लहरी पुनः लहरा उठी:—'जो पहिरावे सोई पहिरूँ, देवे तो बिक जाऊँ 'मीरा' के प्रभु गिरधर—नागर, बार बार बलि जाऊं।' वास्तविक बात तो फिर कहनी पड़ती है कि 'राम' से मिलने की इस आरति को, इस विह्वलता को समझा सकने के लिये विधना ने कोई शब्द रचे ही नहीं। हमारे 'श्री बाबूजी' का कितना पावन, स्पष्ट कथन है कि:—

'मोहब्बत मानियो अलफाज में लाई नहीं जाती,
यही ऐसी हकीकत है जो समझाई नहीं जाती'।

प्रश्न अब यह उठ सकता है कि आखिर यह आरत उर में उठी ही क्यों ? न यह आरत उठती न अग्नि लगती। उत्तर यह है कि वैसे तो जल की आवश्यकता हर व्यक्ति को हर समय ही रहती है किन्तु जल की एक बूंद का महत्व रेगिस्तान में भ्रमित हुये उस पथिक के लिये कितना विशेष हो जाता है जो कि उसके लिये मृग—जल का सहारा ले लेकर भटकता और दूर ही निकल जाता है। इसी प्रकार इस संसार रूपी रेगिस्तान की मृग-मरीचिका में भ्रमित मानव सुख व चैन की खोज में और भी भटक जाता है एवं यह आरत या वेदना जो उसके साथ ही लगी फिरती है वह भांति भांति के ऐश्वर्य, भोगों एवं आनन्दों की प्राप्ति होते हुये भी मानव को चैन नहीं लेने देती है क्योंकि यह जो जहाँ से आया है

यहीं जाना चाहता है एवं जैसा आया था वैसा हो जाने पर ही इसे चैन की साँस मिल सकती है। बात ठीक ही है कि शरीर में जहाँ खुजली होती है वहीं खुजलाने से वह मिट जाती है एवं तभी चैन भी मिल पाता है। खुजली दिल में है और खुजलाया दिमाग तो फिर चैन कैसे मिले। किन्तु चैन किसे मिलता है जो एक ही जून मोटा, झोटा खाकर ईंट का सकिया लगाकर 'मालिक' के सहारे बेखबर सो जाता है। तब हमारे मन में यह विचार अवश्य ही आता है कि आखिर यह धन्य-मानव कौन सी बूटी खाकर इतनी अवस्था में बेखबर पड़ा हुआ है ? तभी हमारे मन में हमारे 'राम' की प्रेरणा मिलती है एवं तभी हमें यह प्रतीति होना प्रारम्भ हो जाती है कि यह सच्चा सुख एवं आंतरिक निश्चिन्तता कुछ नहीं केवल टट्टी की ओट शिकार-मात्र ही है। यही जिलौनी जो एक से दो करके हमें भटकाती रहती है वही आरत के रूप में प्रकट हो कर हमें पुनः दो से एक के पसारे में ले आने को आकुल-व्याकुल रहती है। किन्तु कब ? जब हम अपनी चाल को सीधा कर लेते हैं एवं चाल तभी सीधी हो सकती है जब कि हमें पूर्णरीत्या ठिकाने या लक्ष्य का विचार बना रहता है। ठिकाने का विचार भी तभी बना रहता है जब हम उस परम प्रियतम 'राम' के, जो कि सर्वत्र रमा हुआ है 'उसके' ही हो बैठते हैं किन्तु उसके हो बैठना तब नितान्त सरल एवं सहज हो जाता है जबकि हम अपने आपको खो बैठते हैं। एक दिन हम सत्य ही अपने को खो बैठते हैं जब कि अपने प्रियतम के अतिरिक्त दूसरा विचार हमारे मन में आता ही नहीं है। कितना मधुर एवं सत्य कथन है कि—

"प्रियतम छवि नैननि बसी, पर छवि कहाँ समाय,
भरी सराय रहीम लखि आपु पथिक फिर जाय"।

यदि हमारे मन की गागर 'उसके' प्रेम की उस आंतरिक बाढ़ से लबालब ही हो जाये तो फिर किसी अन्य की गुजर ही कहाँ

हो सकती है क्योंकि तब हमारा मन तो अपने 'मालिक' से मिलने के निश्चय से परिपूर्ण ही हो जाता है जिसे अपने सारे सुखों व आरामों को तिलाँजलि दे चुका होता है। तभी एक दिन आता है कि 'राम-मिलन के काज जगी आरत उसे 'राम' के दरबार में जा खड़ा करती है। यद्यपि उसका हाल भी बेहाल हो जाता है। वह बेचारा गरीब खाली हाथों अपने से ही वीरान हुआ फिरता है। पते का उसे पता नहीं रहता, होश-बेहोश की उसे खबर नहीं मिलती। सच ही एक गरीब का भेद भी यही है कि बेचारे के पास कोई भेद नहीं है अर्थात् फिर वह उल्लू ही बन गया कि जहाँ भी बैठ जाय वीरान ही बना दे। ऐसे ही प्रिय महापुरुष जिस बड़भागी के हृदय में विराज गये फिर चाहे वह मित्र हो या शत्रु, बस उसका हृदय हम व हमीं से वीरान ही हो गया समझना चाहिये। यह तो केवल 'उसके' एक बार बैठने का फल होता है परन्तु यदि वह मन में बस गया फिर तो 'वह' अपना सा ही बना कर छोड़ता है। वह हृदय अथवा मन की थाती ही ले डूबता है क्योंकि वह तो उसका स्वाभाविक गुण ही बन गया है। जहाँ से शुरूआत है वहीं अन्त है यही आध्यात्मिकता का रहस्य है एवं तभी कदाचित् हमारे 'श्री बाबूजी महाराज' का कथन भी, कि 'याद वही है जो कभी न आवे' स्पष्ट दृष्टिगत होता है एवं इन सब भेदों का भेद भी कैसा सरल है कि 'वह' अभेद है। बात यही है कि जब हम झरने के पास जा पहुँचते हैं तब न तो हमें जल के समाप्त हो जाने का भय रहता है और न ताप ही का कष्ट रहता है। ऐसे ही जब हम सद्गुरू के चरण-रूपी सागर में जो पैठते हैं तब न तो हमें अपने आंतरिक-आनन्द के कभी चुक पाने ही का भय रह जाता है और न त्रिविध-ताप ही उन शीतल चरणों तक पहुँच कर हमें पीड़ित कर पाते हैं। सांसारिक-पीड़ा एवं सुख का तो अनुमान भी नहीं पहुँच पाता है क्योंकि संसार उस के लिये एक बेगाना, अनजान-शहर की भाँति ही हो जाता है।

प्रियतम सद्गुरू के चरणों की वह पावन सलिला एवं हृदय का वह पावन, निर्झर, अखंड व अनन्त ईश्वरीय-धारा का श्रोत हमें प्रतिक्षण कुछ का कुछ बनने एवं बनाने की दिव्य—शक्ति प्रदान करता है एवं हमारी गति, मति एवं रति सतत् हो जाती है क्यों कि मन को कुछ अच्छा लगना यह भी चाहे आध्यात्मिक—गतियों ही के लिये क्यों न हो, दशा के समत्त्व को कुछ न कुछ विचलित ही करता है। चाहे हम भले ही इस भेद को न पकड़ पायें किन्तु उस समर्थ-सद्गुरु की दृष्टि से बच निकलना आसान ही नहीं वरन् असंभव है। मुझे स्मरण है कि point A1 की अलौकिक-आनन्द गति के लिए जब मैंने अपने 'श्री बाबूजी' से दुबारा प्रार्थना व इच्छा प्रकट की तो 'आपने' अत्यन्त स्नेह के साथ समझाते हुए लिखा कि "वैसे तो उस अवस्था को पुनः लाना सरल ही है किन्तु गुरु का धर्म है कि बच्चे को ऊपर ही ले जाए, नीचे न देखने दे इसलिये मैं मजबूर हूँ वैसे यदि तुम चाहो तो वर्तमान गति को बगैर हटाए दबाकर AI की गति को उभार दूँ। बस इतना पढ़कर मेरी दृष्टि फैली की फैली रह गई और मुझे चेत आ गया।

बात भी यही सत्य है कि मन, मन में ही समा जावे फिर हमें जो कुछ भी प्राप्त होता है वह सतत् ही होता है और जो सतत् है वही सत्य है। बस इसी सत्य को ढूंढ निकालने के लिए ही उर में आरत का ही नहीं वरन् आध्यात्मिकता का भी जन्म होता है। अपनी महती-शक्ति (ईश्वर या राम) से पृथकत्त्व होने के कारण ही हम जन्म-जन्मान्तरों से दर दर मारे मारे फिरते रहे। यदि भटकते भटकते कभी किसी को सद्गुरु का वह सत्य द्वार मिल गया है तो फिर उसकी सारी भटकना एवं सारी साँसारिक आर्त्तना स्वतः ही शान्त होकर एकमात्र ईश्वर की ही ओर मुख मोड़ देती है। जिस प्रकार समुद्र के नीचे बड़े बड़े गहरे सुनसान स्थान होते हैं कि जहाँ पर कठिन से कठिन आँधी की भी गम्य नहीं हो सकती उसी प्रकार सद्गुरु की कृपा रूपी पतवार का सहारा लेते लेते

मानव को, हृदय की अथाह गहराई में डूबते २ बहुत दूर एक ऐसे सुनसान एवं पवित्र-स्थिति की प्राप्ति होती है जहाँ धूल में लुढ़कने पर भी वह स्वच्छ बना रह सकता है। निरंतर हलाहल पीने पर भी मरता नहीं बल्कि उस अमृत-कुन्ड में सराबोर हुआ वह ऐसा जीवन पा जाता है जहाँ मृत्यु की गम्य नहीं। आँधियाँ शान्त हो जाती हैं, तूफान समाप्त हो जाते हैं और सब शाश्वत् ही हो जाता है।

आत्म-नियन्त्रण, आत्म विकास का मेरुदंड है एवं आत्म-विकास अन्तर में पैठे बिना असंभव ही है। आत्म नियन्त्रण जहाँ लौकिक फलार्थी को मनोवाँछित प्रदान करता है वहाँ वह आत्मिक-वैभव के आकाँक्षी की भी इच्छा-पूर्ति करता है।

वैसे आत्म-विकास के लिए अनेकानेक-क्रियाऐं तथा जप, तप दान, यज्ञादि साधन बताये गए हैं किन्तु ईश्वर-प्राप्ति की आरत उर में जागे बिना पग आगे बढ़ना असंभव ही हो जाता है। हमारे 'श्री बाबूजी' का भी कथन है कि 'तड़प अपना रास्ता ख़ुद ही टटोल लेती है'। सत्य ही है कि ईश्वर के अतिरिक्त भाँति २ की क्रियाओं में प्रियता रखने वाला बन्दा घानी के बैल की तरह गोलाकार घूमा करता हैं किन्तु ईश्वर एवं सद्गुरु में प्रियता रखने वाला बन्दा उस घानी व गोलाई को उलंघन कर स्वतन्त्र-मैंदान में ईश्वर की ओर और भी तेज़ी से दौड़ता है और 'उसे' प्राप्त करता है। ईश्वर से दूर होने का साराँश केवल यही है कि मनुष्य इस बात को विस्मरण कर जाता है कि ईश्वर उसके अन्दर निवास करता है। दार्शनिक नावेलिन का कथन है कि:—'There is one temple in the world and that is the human-body' अर्थात् संसार में ईश्वर का केवल एक ही निवास स्थान हैं, और वह मनुष्य का शरीर है। कहते हैं एक बार भक्तिमती रबिया रोती जाती थी और चिल्लाती जाती थी कि काबे, और काशी में आग लगा दो क्यों कि घर के पीछे लोग घरवाले को भूल गए। सत्य ही जीवन भर पूजा,

पाठ करने पर भी उर की प्रेरक, 'प्रिय' से मिलने की वह विह्वलता एवं तड़प नहीं जाग पाती। अपने बनाये महल ही में हम आराम करते रहते हैं? ईश्वर के दर की तो हमें सुधि ही नहीं आती। हम मिट जाते है, हमीं ज्यों की त्यों हमसे चिपकी रहती है।

वास्तव में 'मालिक' की भगवत्सलता का दिग्दर्शन भी हमें उससे मिलने की विह्वलता की दशा में ही प्रत्यक्ष दृष्टिगत् होता है विह्वलता की चरम-सीमा पर 'मालिक' की कृपा भी चरम-सीमा पर पहुँच जाती हैं। विरह, मिलन के बाद की दशा में अन्तर में कुरेदना प्रकट करता है और विह्वलता बिना दर्शन के ही मन को मथकर निकलने वाली साधक की अन्तरमयी-स्थिति में प्रकट होती है। विरह में कुछ अंश में धैर्य भी कुछ मिलौनी रहती है जबकि विह्वलता या आरति मिलौनी से रहित नग्न ही होती है। इस विह्वलता एवं तड़प में प्रेम का भी बलिदान होने लगता है किन्तु हम इससे भी अनजान ही रहते हैं एवं हमारा यह त्याग भी त्याग नहीं कहा जा सकता है क्योंकि त्याग में अपने मन के कोने में उसकी खटक सी रहती है परन्तु इसमें अर्थात् अपने 'राम' से मिलने की आर्त्तना में तो हमें इसका भी ज्ञान नहीं रहता है। सच तो यह है कि हम तो अपने 'स्व' को भी 'उसके' हवाले नहीं करते बल्कि 'उसको' अपना बना लेने में हमारा हृदय तन्मय-मात्र होते हुए यही रटना लगा देता है कि:—

'बिजली चमके काली-घटा में, जाम में आतशेसर्द*,
चमके राख जोगी की जटा में, मुझमें तेरा दर्द॥

बस यही उर में लगी इस आरति का संक्षिप्त सार है।

कैसा अनुपम, अनोखा क्षेत्र है? कितना साहस है एवं कैसी कसौटी है? कि प्रेम की हर दशा को, प्राण ले लेने वाली तड़प (पीर) को; बावली अवधूत-गति को भी संसार में किसी के समक्ष

*ठंडी आग यानी शराब।

बिना प्रकट किये मन का मन ही में पी जाने का प्रयत्न किया करता है। मन की पीर चाहे मन को खा जाये, आँखों में चिपकी लोनी चाहे दृष्टि के सारे लहू को चूस जावे परन्तु वह जिह्वा पर उफ़ नहीं लाता। किसी के सामने अपने दिल की लगी को रोता नहीं क्योंकि उसका 'राम' सदा सदा के लिये उसका अपना हो जाता है। यही तो उसका दृढ़ निश्चय भी था फिर निश्चय तो निश्चय पूर्ण होता ही है। उसकी सारी कलई उसके 'राम' पर खुल जाती है और जब उसके पास अपना कोई राज़ नहीं रह जाता तो उसके 'राम' का राज़ भी उस पर प्रकट ही हो जाता है क्यों कि तब पृथ्वी की छाया आकाश को नहीं चूम पाती। मृदुता ही जिसकी वाणी एवं सरलता ही जिसका हृदय हो जाता है ऐसे धन्य महा-मानव, जिनके जीवन में नेकी और पवित्रता एवं ईश्वर की याद इस प्रकार बस जाती है (गई है) कि जिस प्रकार सुगन्धि और महक फूल में बसी होती है वही कषाय एवं वासना रहित सर्वजित मानव ऐसी अनोखी दशाओं के अनुपम-क्षेत्र में विहार करता है कि:—

"दिया हमने जो अपनी खुदी को मिटा—

—वह जो पर्दा था अब न रहा—

—रहा पर्दे में अब न 'यह' पर्दा नशीं—

—कोई दूसरा 'तेरे' सिवा न रहा॥

❀ ❀ ❀

"साधना में प्रेम और सुरति का महत्व"

(श्री दुर्गा शंकर अवस्थी)

श्रद्धेय बाबूजी, भाइयों व बहनों,

महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों के निरोध (discipline of mind) को हम योग कहते हैं। योग के अर्थ जोड़ होते हैं और चित्त की वृत्तियों के निरोध पर ही हम मालिक से जुड़ते हैं। यदि हम केवल सुबह शाम ही कुछ समय तक ध्यान कर लेते हैं यानी कुछ समय के लिये मन को आत्मा की ओर (higher self) लगाते हैं व बाकी समय में हमारे मन की वृत्तियाँ इच्छाओं में (lower self) मनमाना दौड़ लगाती हैं तो हमारे मन का discipline या चित्त की वृतियों की शान्ती स्थायी तौर पर आना संभव नहीं हो सकता है। भगवान श्रीकृष्ण जी का कितना स्पष्ट कथन है कि:—

ध्यायतो विषयानपुंसः सङ्गस्तेषु पजायते
सङ्गात संजायते कामः कामत्क्रोधो भिजायते

अध्याय २ श्लोक १६ में

अर्थ—विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष की उनमें आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से इच्छायें उत्पन्न होती हैं और इच्छाओं की पूर्ति में बाधा पड़ने पर क्रोध आता है।
ठीक कहा गया है:—

राही कहीं है राह कहीं राहबर कहीं,
ऐसा भी सफर कामयाब है हुआ कहीं ?

सफर की कामयाबी के वास्ते जीवात्मा रूपी सवार को मन रूपी घोड़े पर बैठ कर आध्यात्मिकता रूपी पथ पर ही चलना होगा अन्यथा हम दुख को प्राप्त होंगे। क्या सुन्दर कहा है:—

दुखी सदा को? विषयानुरागी
कः पूजनीय? शिव तत्वनिष्ठः

अर्थ—सदा दुखी कौन है? जिसे विषयों में अनुराग है। पूजनीय कौन है? जिसकी शिव तत्व में निष्ठा हो गई है। कुछ लोग कहते हैं कि यदि हम हर समय ध्यान करेंगे तो हमारा जीवन निर्वाह व घर का धंधा कैसे चलेगा।

दैनिक जीवनमें जब हम घरसे स्कूल, दफ्तर या बाज़ार जाते हैं तब हमको रास्ते भर यह सोचना नहीं पड़ता कि दाहिने घूमें कि बायें और तमाम तरह के विचारों का ताँता आते रहने पर भी हम अपने अभिलशित स्थान पर पहुँच ही जाते हैं। वास्तव में ये दैनिक जीवन के कार्य इतने routine स्वभावगत प्रकृति बन जाते हैं कि उनमें क्रिया शलि मन लगाना नहीं पड़ता एवं एक हलके भूले हुये ख्याल से ही काम चल जाता है इसी प्रकार यदि हम यह समझ लें कि हम मालिक के आदेश से अथवा उसके काम से जा रहे हैं, अथवा वह हमारे साथ में है या वह स्वयं जा रहा है तो यह सबकार्य पूजाके अंग बन सकते हैं व घर का काम भी चलता रहेगा, इसी प्रकार हम अपने मालिक की याद खाना खाते समय घर, दफ्तर, दूकान व कठिन शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम करते समय भी कर सकते हैं। घर वालों की व बच्चों की परवरिश के समय यह ख्याल कर लें कि ये मालिक के है और इन की परवरिश का काम उसी प्रियतम ने हमको सौंपा है तब हम तत्परता के साथ अपनी प्रियतम की प्रसन्नता के लिये कार्य करेंगे व घर का धंधा व पूजा दोनों राग द्वेश रहित समान बुद्धी से चलते रहेंगे।

जैसे जैसे हमारी आदत मालिक की याद करने की पड़ती

जावेगी वैसे वैसे हमको इसके वास्ते दिमाग पर ज़ोर देने की आवश्यकता न पड़ेगी और यह स्वभावगत प्रकृति बन जावेगा। हमारा मन भारीपन लाने वाले विचारों यानी बाह्य विषयों इत्यादि में दौड़ने वाले खयालों से बचा रहेगा लिहाज़ा परिश्रम की थकान भी कम होगी और हम अधिक परिश्रम कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त ईश्वर की याद के समय में मन का focus (केन्द्रिय करण) या उसके अति समीप अन्दर की ओर होता है यानी इस शरीर में जो "मैं" नेत्र, नाक, कान आदि द्वारा देखता सूँघता व सुनता है और ऐसा जानता है मन का रूख भी उसी आत्मा की ओर ही हो जाता है और हम उस "मैं" के साथ जुड़ जाते हैं जिसे पवन सुखाता नहीं, अग्नि तपाता नहीं एवं जहाँ चैन का ही साम्राज्य होता है। साधना में सुरति अथवा सतत् स्मरण का ऐसा ही महत्व होता है इस प्रकार स्मरण करने का क्या परिणाम होगा?

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मन
तथा तथा मुन्चित बाह्य वासनाः
निःशेष मोक्षे सति वासनाना
मात्मानुभूतिः प्रतिबन्ध शून्यः

(विवेक चूड़ामणि श्लोक ३७७)

अर्थ—मन जैसे जैसे अर्न्तमुखी होता जावेगा वैसे वैसे वह बाहरी वासनाओं को छोड़ता जावेगा और जिस समय वासनाओं से पूर्णतया छुटकारा हो जावेगा तब प्रतिबन्ध शून्य (with out any obstruction) आत्मा का अनुभव होगा और तब मन वैसा ही हो जावेगा जैसा कि होना चाहिये। क्या सुन्दर कहा है:—

पहले यह मन काग था करता जीवन घात।
अब तो मन हंसा भया मोती चुग चुग खात॥

अर्थ—जो मन पहले कौए की तरह विषय वासकाओं रूपी गंदगी

खाकर जीवन क्षीण करता था वही अब मालिक से जुड़कर हंस की तरह निर्मल हो गया है और मोती चुग कर खाता है यानी उसमें केवल दिव्य भाव ही स्फुरित होते हैं।

यह हालत तभी आती है जब प्रेम व विरह रूपी बाज़ मनको आच्छादित करके उसके राग द्वेष को नहीं खा डालता क्या सुन्दर कहा है:—

मन पंछी तब लौं उड़ै विषय वासना मांहि
प्रेम बाज़ की झपट में जब लगि आवत नाहिं

इसके बाद ही मन निर्मल हो पाता है।

स्वामी शंकराचार्य जी ने भी मन को सदा आत्मा में ही स्थिर रखने को बताया है यानी सतत् स्मरण को ही महत्व दिया है। गीता भी यही कहती है—

चेतसा सर्व कर्माणी माये सन्यस्य मत्परः
बुद्धि योग मुपाश्रित्य मच्चितः सततम्न भव

अर्थात्—सब कर्मों को मेरे में अर्पण करके आसक्ति व द्वेष रहित समान बुद्धि का आश्रय लेकर निरन्तर मेरे ही में चित्त वाला बन।

भगवान कृष्ण ने तथा उच्च कोटि के महात्माओं भी तैल धारा वत् (unbroken) निरन्तर ईश्वर चिन्तन करने के अभ्यास को ही महत्व दिया है एवं साथ साथ दुनियां के काम भी कठिन परिश्रम से करने की ही विशेषता प्रदान की है स्वामी शंकराचार्य जी ने केवल तीस वर्ष की आयु पाकर भारतवर्ष की आत्मा ही बदल दी व श्रीकृष्ण जी ने अपने जीवन में जितना काम किया सभी जानते हैं और हमको शिकायत है कि सतत् स्मरण करेंगे तो घर के धंधे कैसे चलेंगे व जीवन निर्वाह कैसे होगा।

ऊपर लिखी विधि में 'मालिक' का सतत् स्मरण करने से सब कार्य पवित्र भावना या सद्बुद्धि (intuition) द्वारा प्रेरित होंगे और उन कार्यों से हममें आसक्ति व अहम् भाव भी पैदा न होगा।

हमारा जीवन निर्वाह व घर के धंधे भी भली प्रकार चलते रहेंगे, यही मार्ग सभी श्रेष्ठ महापुरुषों ने अपनाया है व गीता का निष्काम कर्म योग भी यही है।

सतत् स्मरण करना कठिन भी नहीं है, अभ्यास करते करते स्वभावगत आदत सी पड़ जाती है। हमारे मिशन के सब भाई बहन सरलता पूर्वक इसका ही अभ्यास करते हैं। किसी छोटी कक्षा में मैंने एक poem पढ़ी थी जिसका शीर्षक था

"Try and try again boys, youwill succeed at last."

उसमें लिखा था:—

"Standing at the foot boys,
Gazing at the sky,
How can you get up boys,
If you never try."

यदि हम पहाड़ी पर चढ़ते नहीं केवल नीचे खड़े हुए सहमे हुए आकाश की ओर निहारते रहते हैं तो शिखर तक कभी नहीं पहुँच सकते जहाँ के तहाँ बने रहेंगे।

Mr. Longfellow says—

"The heights by great men reached and kept,
Were not attained by sudden flight,
But they, while their companions slept,
Were toiling upwards in the night."

(From Psalm of life).

महापुरुषों ने जो भी उच्च स्थान प्राप्त किया है वह ज़रा देर में उड़कर नहीं परन्तु जब उनके दूसरे साथी सो रहे थे तब वे रात में ऊपर उठने के वास्ते प्रयत्नशील थे। गीता भी कहती है कि मन का

निग्रह कठिन है परन्तु धीरे २ अभ्यास करने पर मन वैराग्य ग्रहण करता है जो चीज़ शनैः २ खराब हुई है एक दम कैसे सुधर सकती है। जो बीमारियां धीरे धीरे प्रवेश करती हैं, वे धीरे २ ही जाती हैं, शीघ्र आने वाली बीमारियाँ शीघ्र ही छोड़ देती है, क्योंकि वह deep rooted नहीं हो पातीं, घर नहीं बना पातीं।

ईश्वर प्राप्ती के वास्ते हमें तास्सुब (Prejudice) व पक्षपात (Favouritism) आदि छोड़कर शील को ग्रहण करना चाहिए क्यों कि हम जिसे प्राप्त करना चाहते हैं उस ईश्वर के साम्राज्य में हमें इस तरह के भेद भाव नहीं दिखाई पड़ते शील के वास्ते क्या सुन्दर कहा है।

किं भूषणादि भूषणं मस्ति शीलम
तीरथं परम किं स्वमनो विशुद्धम

अर्थ—भूषणों का भी आभूषण क्या है ? शील ॥
सबसे बड़ा तीर्थ कौन है ? अपने मन की निर्मलता ॥

हमको "मालिक" की ओर मुड़ना होगा और धीरे २ इरादा (लगाव) इतना गहरा (deep rooted) करना होगा कि दूसरी ओर निगाह ही न रहे। ठीक कहा है:—

पा गया बस चेहरेये मकसूद के लैली के वह।
जो हुआ है मिस्ले मजनू बुलबुले गुलज़ारे इश्क ॥

अर्थ—चाही हुई मंज़िल उसी को मिलती है जो अपने ध्येय को मजनू की तरह या जैसे बुलबुल गुलशन को चाहती है प्रेम करता है। लगाव के साथ सतत् स्मरण करने से चूँकि ख़याल में गर्मी है प्रेम उत्पन्न हो जाता है और बढ़ने लगता है। प्रेम बढ़ने पर मालिक की याद हमको हर समय व हर जगह सताने लगती है,

और हम विरह का अनुभव करते हैं। दूसरे राग अपने आप फीके पड़ जाते है। उनको छोड़ने की जरूरत नहीं रह जाती, सन्त कबीर कहते हैं—

विरह जगावे दर्द को, दर्द जगावे जीव।
जीव जगावे सुरति को, पंच पुकारें पीव ॥

अर्थ—पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ प्रियतम को स्वतः याद करने लगती हैं

विरहा कहै कबीर से, तू जनि छाँड़े मोहिं।
पारब्रम्ह के तेज में, तहाँ ले राखौं तोहि ॥

विरह ही हमको अपने प्रियतम से मिलने के वास्ते पथ पर आगे बढ़ने को प्रेरित करता है और पारब्रम्ह तक ले जाता है। केवल शान्ती प्राप्त कर लेना हमारा उद्देश नहीं है जयशंकर जी का कथन है:—

इस पथ का उद्देश नहीं है।
श्रान्ति भवन में टिक रहना ॥
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर।
जिसके आगे राह नहीं ॥

विरह की चरम सीमा पर पहुँचने पर क्या होता है ?

"दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना"

इस दर्द के अन्तर में जो आनन्द व मज़ा छिपा रहता है उस का लेशमात्र भी शान्ती में नहीं मिलता है पूज्य बाबू जी के शब्दों में इस दर्द की प्राप्ती के वास्ते बहुत से फकीर तरसते ही चले गये हैं।

—अपूर्ण

(शेष अगले अंक में देखिये)

भगवत्-शरण स्तोत्र

मैत्री समेषु न च मेऽस्ति कदापि नाथ
दीने तथा न करुणा मुदिता च पुण्ये ।
पापेऽनुपेक्षणवतो मम मुत्कथं स्यात्
तस्मात्त्वम शरणं मम दीनबन्धो ॥

नेत्रादिकं मम बहिर्विषयेषु सक्तं
नान्तर्मुखं भवति तान् प्रविहाय तस्य ।
कान्तर्मुखत्वमपहाय सुखस्य वार्ता
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबन्धो

[हे नाथ, मुझमें समान व्यक्तियों के प्रति मैत्री-भाव कभी भी नहीं रहा । न दीनों के प्रति करुण और न पुण्यवानों के प्रति मुदिता । पाप के प्रति मेरा उपेक्षा भाव भी नहीं रहा । फिर (भला) प्रसन्नता कैसे प्राप्त हो । अतः हे दीन बन्धु, अब तो आप की ही शरण में हूँ । मेरी नेत्रादि इन्द्रियाँ बाह्य विषयों में आसक्त हैं, उन्हें छोड़कर (मन) अन्तर्मुखी नहीं होता । अन्तर्मुखता का परित्याग कर के सुख की बात ही कहाँ ! अतः हे दीन बन्धु, अब तो आप की ही शरण में हूँ । —श्री ब्रह्मानन्द]

[O Lord, never did I have a friendly feeling towards my equals;
Neither (did I have) compassion for the lowly, nor gladness at (the sight of) virtue;
Nor(did I behave) towards vice as one, indifferent: How, then, can there be hapiness for me !
Therefore, O Brother of the lowly, now you remain my only refuge.
My eyes and other senses have been attached to external objects;
So, leaving them apart,(my mind)never turns inward.
Where can there be a chance for happiness, if one has left introvertiveness aside !
Therefore, O Brother of the lowly, now you remain my only refuge. —Shri Bramhananda]

Spiritual Advancement

(Shri Ram Chandra Ji, President S. R. C. M.)

You will find many personalities in this world tearing off the veil of MAYA but hardly one who could remove the covering of egoism. Even in life-long ages this thing becomes impossible. That is the only veil hanging between man and God. The Abhyasis before coming near this veil call themselves perfect and they are really so. But such a great personality as could tear off this veil comes after thousands of years. That is the only thing to be crossed over after which the wave of Almighty begins to flow without break. It is very difficult to find out a man, talented with it. This would be a fool's saying if I approach any body with this sermon because he will find these defects in me; but I write to you for your guidance to acquire that stage. I am duty-bound to say so to you all. Suppose I am not qualified to this extent, still I have a heart ready to pray for you all to gain that stage. But how can you or any body gain such a thing when you do not overcome your lazyness and sluggishness even. When intending to reach the higher ideal one must give up things obstructing the way. If one cannot give up the un-wanted things, that means he has not yet formed his ideal. Two things cannot stand at one place. Now I am

coming to your point. My life I cannot say will be shorter or longer. During the interval if you or others waste time in doing nothing I think that will be a blunder, although some body will remain to give you spiritual stages equally as I do. But I want to see the progress of you all with my own eyes.

If a man keeps before him his ideal (I mean the Godly one) in real sense it can never happen that he may be able to neglect this foremost duty. There are also obstacles made by you which can be overcome if you give a little strain to your will. I sometimes fear to tell you the weakness. At the same time I know that you know your weaknesses yourself. If you pay heed to the pious thought of realisation these things will soon bid farewell. I may also be helpful to you in this matter provided you impel a little towards the march for freedom. The people generally do not try to leave the habit which they are accustomed to because they have to exercise themselves and thus feel trouble. Alright, I agree. Do not try to remove them, but at the same time exercise yourself as best as you can and adopt the means to gain the real object of life. If you really start, inform me so that I may look to your advantages at each step. You know yourself that I am building my hopes on you as well. Am I not then, sorry if you do not improve.

You have written to me that you have burning

desire for spiritual advancement, and I believe it. The burning of wood has its three natures, One of the state is that it gives smoke; the other spark & the third the essence of the burning which is visible if you see minutely. Its colour is like that of electricity and it cooks the food very soon. This thing is due to the oily substance it has got. The other things, that is, smoke and spark are due to wetness and solidity respectively. Had you the burning desire like that of electric spark created by the firewood, you would have gone by leaps and bounds in the spiritual field. Electricity is devoid of smoke and solidity. How it works then ? Be like electricity and then burn. Then you will bring the desired result. If you free yourself with wetness and solidity then naturally you become the electric spark. What is wetness and what is solidity ? This thing your experience in life will convince you. If you ask this question I shall answer that wetness mingled with the solid substance darkens you mostly. Actions of nature against SUKSHMATA (सूक्ष्मता) shine out as desired. Desire for gaining the goal of life a man must have. I am writing these sentences to you so that people may not criticise me. This desire will go away naturally when you attend to the goal of life. But this thing is far off. You must not contemplate it at the present stage. It is the God's blessings, one gets in reward. What is the oil

for the Abhyasi ? Devotion. Constant remembrance brings devotion nearer and it is the seed from which oil is obtained. As regards other followers I would say that most of them are lazy and they are so accustomed to it that they get but little time to look to their best advantage. But it does not matter. What is our duty as a brother ? We should always regard them like the sons of the same father. Suppose anyone of us is wanting in duty, there is no reason why should I be undutiful towards him. I always say things to be followed by spiritual brothers indirectly. I do not make compulson like my master for a certain thing except that of meditation for which I am obliged to say that they do not feel incumbent upon them to follow it. Why this thing I do ? It may be due to the fact that if I forbid anything and they do it, they are proving themselves undutiful which is a sin if you minutely go into the real sense of teaching I do not want that they may enter into any sort of sin in any way. The Abhyasis understand what I mean but they do not follow it. For instance meat-eating is strictly forbidden in our Sanstha & I have declared the policy and the mandate of my master, but none of them could leave it. It is not at all beneficial for spiritual purpose. It may be prescribed for the weak and can be allowed for them in rare cases but not for the persons who have healthy body. The people generally take it for

taste, which is harmful for purposes of spiritual advancement. Really speaking any sort of undue attachment—positive (राग) and negative (द्वेष)—is a poison for spirituality. I hope the letter will satisfy you.

—From a letter to an Abhyasi

❀ ❀ ❀ ❀

In a gathering of Satsangis, a new comer pointed out that prayer is a matter of personal conviction and dedication. The most efficacious method for an Abhyasi's spiritual development, therefore, is private worship, he suggested.

"But there can be no better method for bringing about an effective organization than common prayer and worship". The master explained.

The Power of Thought

AS USED IN SAHAJ MARGA

(Shri Raghavendra Rao, B. Sc., B. E., M. I. S. E.)

Beloved Babuji, brothers and sisters,

On this auspicious occasion I wish to place the following views before you with a request for your kind and patient hearing.

The religious view is that God created the Universe. But how much time did He take to do it? According to the scientific theories it takes millions of years for the evolution of "organised" systems of heavenly bodies from the nebulous matter. And the process of the evolution of nebulous matter from energy is yet to be investigated. And further still, the nature and the source of energy itself has yet to be conceived.

In order to effect the creation, God has to first become God, the Creator. God "becomes" the Creator the moment there comes the stir of the motive of creation in Him. That stir, motive or movement is the Original Power which has effected God's works. In that sense the moment God became the creator the creation started. Why at all did He think of creating? Well, He alone knows: Most

probably it is His recreation.

Now let us inquire into the nature and power of thought. The force which is the cause of this universe, is there in man also, Man can experience it. as the fountain-head of his very being. In Sahaj Marga this very power is put into use, thanks to the researches of our Great Master.

Unless we experience it for ourselves it is difficult for us to have full conviction in the power of thought. But in fact we are always having its experience and yet it appears to be quite mysterious. Why is it so ? The reason is obvious. We do not sincerely want to experiment on it scientifically. Either we run away from our own which is nothing but the naked truth or else we create in us an unnatural world, which is nothing but delusion.

Then how to find out ? The answer too is quite simple–Meditate. By doing so that discerning eye automatically opens inside us. We become immediately aware of that grossly complex being which we had erroneously taken to be ourself. This complexity is nothing but the cob-web we have woven by our own thought. This cob-web has bound us firmly. It has become very solid and has developed a strong tendency to retain itself and to gravitate towards further solidity. Whereas this solidity seems

seems to be unconscious and even inanimate, the network itself appears to be all force and power concentrated in the form of different knots.

In this way a clear picture of the process of "evolution" of vital power from thought and the solidification of that power comes before our view. It is obvious that if this process is reversed we can arrive at the final state of pure and naked thought; so much so that each particle of our body can be converted into energy. Proceeding still further, each such particle can be transformed into its Ultimate, and thus each one may be made the Centre-Divine radiating the Divine Radiance. When such a state is acquired man becomes the Superman having transformed his whole being integrally.

Various methods to practise intense imagination, concentration or even thoughtless state are prescribed by some self-styled gurus who themselves may be really thoughtless fellows. But the correct method is that which is quite natural, brings in purity and creates right thinking. Simple meditation and light mental practices taken up under the guidance of a worthy person will bring quick and effective results. In right method of practice it is endeavoured to mould the mind properly and to purify the system so that mastery may be acquired over the power of thought.

The Natural state of pure thought is very simple, light and subtle. The other state which we are normally aware of is its inverted state. This inversion also is not merely a simple inversion but it is a very complicated one having undergone the process of becoming grosser and grosser at each inversion, many number of times. If we regain the natural state we can get mastery over it.

It is not intended here to propound the theory of absolute idealism denying reality itself. The theory of idealism, incidentally, shows the powerful working of thought, which moulds of men. In order to arrive at the truth, a scientific approach, an experimental attitude and an unprejudiced outlook is absolutely essential. Nevertheless some kind of assumption is also required. But the less the better. The existence of One Immaterial Absolute-call it the Root Cause, God or X or any name you please-is the simplest and the safest one. The main tool for all investigations in this field is the power of thought. The only requirement is to use it properly. The help of one who has got command over it will be very beneficial. and even indispensable at higher levels.

The credit for the discovery of the use of this central power in man goes to the founder of Sahaj Marga. Although this power in one form or other

was known to our ancient sages yet they had put a limit to man's approach. But thanks to our Great Master a wonderful method has been discovered which is at once most effective and quite harmless. Those who are sufficiently advanced in spiritual science are aware that when the stages of solidity and grossness are crossed over, it becomes more and more difficult to proceed further and to cross the stages of finer materiality and egoism. Egoism persists in one form or other even though in very rarefied state. Some sages have even declared that Ego is God. And some others have taught, as claimed by their own experience, that perfect liberatian is impossible so long as this body lives. It appeared as if a full-stop has been written before the higher approach of man. But the discoverer of Central Region has opened the gate. Now there is no limit to man's higher approach. He can swim & swim in the vast ocean of the Infinite. He can go as near the Centre as he wishes. Because by the power of Transmission this is accomplished in a beautiful manner. A complete breakdown is checked by making the path smooth and gradual, stage by stage; and a slip-back is prevented by the pushing force of Pranahuti.

Shri Ram Chandra Mission has to play the vital role in shaping the world to be. Members are being trained for the great task ahead. The present-

day world is fear ridden due to the discovery of terrific destructive weapons of war. If one is proud of his possession of the know-how of the destructive power on the one hand he is much more afraid, on the other hand, to know that his rivals too have got that. But we know that this material power is like a child's toy before the spiritual force. To acquire mastery over that spiritual force is the invitation which our mission extends to one and all. This power, I mean the spiritual power, is not only a far greater destructive power known to the materialists but it is also a great constructive and creative power. From the very beginning of the practice, in Sahaj Marga, a mastery, a control or at least a proper regulation is acquired over this power of thought. It is left for us to utilise it in conformity with the demand of Nature.

Now it becomes our duty to carry on the research in this field and supply sufficient data so that the work started by the Great Master may come to light and the world may be saved from its impending doom. The tribute which we can pay to Him is at least to make a firm determination to be like Him. And He has assured us that it is possible for all of us to attain the highest state in the shortest possible time and has placed before us His living example. May His Light guide us all for ever. Amen.

OOO

Talks on Shri Babu Ji's

Commenatry on the Ten Commandments of the Sahaj Marga

(By Dr. K. C. Varadachari, M. A., Ph. D., Reader in Philosophy, Shri Venkateshwar University, Tirupati, Andhra Pradesh)

Commandment VII

Be not revengeful for the wrongs done by others. Take them with gratitude, as heavenly gifts.

The seventh commandment instructs that one should not be revengeful for wrongs done to one by others. One should treat the acts of such kind emanating from anyone as helps towards purfication.

This is about the most difficult of the commandments to follow or even to think of. In a world of action and reaction of forces said to be opposed to one another as godly and ungodly, good and evil, it is really necessary to think afresh on this problem and commandment.

Shri Ram Chandra Ji reminds that the entire philosophy behind this ABHYAS or SADHANA has to be considered The original condition is one of SANTI or peace and it is coolness itself. Earl'er it has been shown that all activity has increased

heat and light and consciousness and finally misery has resulted from this excessive heat. These radiations from the Centre are thus the natural processes which however tend to give up heat and return to the original state or coolness. We know that we all seek the night and also coolness (of course, not in excess). We all seek sleep as the period of rest or restfulness. The periods of meditation are for the sake of returning to this coolness or ANANDA or SANTI. There is a law called the Second Law of Thermo-dynamics, which says that enrtopy tends to a maximum, entropy being the state of rest or non-motion or non-heat. The whole world is working according to this law. This will mean that even the sun is finally to become without heat; of course, if nothing intervenes to lift it up from that condition. All of us seek rest normally unless activity is needed for the preservation of the body or system. If nothing intervenes, entropy will certainly tend to become absolute or maximum. We know also that when a particular place is rendered very hot, due to the lowering of pressure, air from neighbouring places or surroundings begins to rush in to increase the pressure and relieves the depression, and the heat. Even so when it passes to the place of depression through the extreme urgency of the condition, there happen typhoons and gales of velocity which indeed do uproot the trees and damage buildings. Similarly, when the individual's

misery or heat increases there is set up naturally a force to relieve the same, and in that process there happens damage too. Man thus finds that instead of lessening his misery more has been added. He becomes agitated against the relieving force which seeks to lower the misery and the heat (tapa). He endows that force with animosity and enmity. He entertains hatred towards it. He opposes that force with all his might and in the process brings into being more heat and misery. This leads to a cycle of actions and reactions. An intelligent man should see that an inimical force is but a friendly force that is removing the obstructions or the heat and misery. It was said that if a man strikes you on the right cheek show him the left, for by that process he removes the obstruction to his own progress and helps the removal which has shown to be necessary by the so called inimical force. Thus it was also said that 'in humiliation lies supreme glory.'

Revenge is natural to the order of ignorance. What is produced by it is greater misery. Most probably it may even be said that our revenge is the cause of building up of the so-called SUKSMA-SARIRA for the sake of transmigration from body to body, not so much to evolve but to take vengeance against our foes or enemies. The desire

to take vengeance is certainly a major element in our misery-cycle. So much so, if one does not wish to be caught up in this cycle of vengeance from life to life one must renounce vengeance. One should develop love for one's enemies, for an enemy is a friend estranged because of his function of removing our impediments. It is true that such an estranged friend is not aware of the good role he is playing: he may even become wicked and ferocious and murderous too; but the new point of view of spirituality will disram all vengefulness on our part. The Gandhian view of non-violence is capable of being considered as the expression of this power of love to overcome the vengefulness, but it can be seen that so long as the aim to convert the enemy is dominant it does not really mean that love that seeks to thank the evil-doer for the good turn he has done, the surgical operation that he has performed in removing our impediments which we could not ourselves remove. If we think that all this world is indeed governed by One Supreme Godhead and that nothing happens without His will and according to His law then we shall thank God for all things that occur. This is the meaning of the SLOKA of Sri Krishna: 'Sukha dukhe same krtva, labhalabhau jayajayau . . .'—(making equal both pain and pleasure, gain and loss, victory and defeat . . . .)

one should seek to attain the STHITA-PRAJNA state–the stateof well-established PRAJNA—deep peace.

Commandment VIII

Be happy to eat in constant divine thoughts. whatever you get, with due regard to honest and pious earnings.

The food that we eat must be firstly piously and honestly earned. Unrighteously taken food is like poison to the very system. Foods are of good quality when they are SATTVA, both with regards to the means and with regard to their quality as such, that is, which have sattvic nature, as distinguished from RAJAS & TAMAS. TAMOGUNA foods produce inertia, perversion, sleep and so on, whereas RAJOGUNA foods are those which increase heat and perverse activity and passion & more desire. Sattvic foods grant lightness to the system and help making the INDRIYAS of the body do their allotted work (dharma) skilfully and efficiently. The body is made up of several organs all of which are intended in a sense to develop skilful work and efficiency; and they have right activity as well as wrong activity. Desires feed the wrong activity or make for wrong activity and inertia too, whereas work in the consciousness that this body is for work of God or liberation from

the body's intertia and desires for doing service to God or to know God will not bind man-NA KARMA LIPYATE NARE. Karmas performed with the awareness that all belong to God will not stain or touch man. SATTVIKA-BHAVA is necessary, along with the same there must be SATTVIKA FOOD. In our ancient Ayurvedic Materia Medica (Dhatu-patha) we have clear instruction about the value of our food, different kinds of vegetables whether they are SATVA-producing or RAJAS—producing or TAMAS-producing. This wholesome method has been completely forgotten now-a-days when the hotel-keepers and chefs prescribe what is tasty according to their capacity to tempt an eater to ask for more of it. Thus appetites are being created which create more and more desire. The modern civilization is a dinner civilization.

I remember Swami Vivekanand called Hinduism kitchen-religion; it was rather unkind of him. There is a great truth if it is said that eating is not the primary test of religion, but perhaps he was refering to the exclusiveness and privacy of eating, some people have counselled. The fact is that eating must be done in the consciousness of God, the giver being God, and in fact it is for God that one ultimately lives and eats to live rather than lives to eat, which is its inversion. We all know that

there is some truth in saying that if any man casts his eyes on another when eating and says that he is a good eater or that child is eating nicely that man or child begins to develop nausea for good. There is an evil eye in this. We also know that the modern dinner system, whilst it may promote certain classes of persons, is unsuitable to spiritual purposes. The have-nots of food do envy the haves of food, and we are having today the food-crises in a psychological sense, in so far as all are demanding more and more food and of all sorts and kinds for all irrespective of real needs. Indeed the unscientific goal about the health leading feeding and fattening of man-thanks to what is called the calory-need per capita—is one of the worst phenomena that we have. It does not mean that men are becoming healthier or better capable of work.

Simple food, food that has not been gotten by ill means or cruelty, food that is wholesome and SATTVIKA, food that will promote spiritual thoughts, moderate and sweet or pleasant rather than pleasure provoking and passion-and-desire—increasing, is basic to the proper maintenance of our bodies. It will not accumulate darkness within, and will make all organs obey the supreme consciousness and unknot the whole and link us up with the Divine.

Sri Krishna has spoken about the importance of this food-management. Sri Ramchandra Ji has also spoken about the same. The Upanishad has pointed out that ANNAM is Brahman. It speaks of PRANA as of the Bhuh (this world), APANA as of the Bhuvah (mid-world), and VYANA as of the Svah (higher world) and speaks of ANNAM as that which is of the MAHAH world and it is with ANNAM that everything becomes big or mahat (MAHIYANTE). ANNAM here does not mean ordinary food but by which all things live and grow or evolve. God is verily the food or nectar which a soul drinks and grows into His nature It is not this food that makes one grow but the Divine-prasad (grace-food) given by God with blessing that makes one grow, that increases one's real being (sattva) & makes all organs work properly (dharma or rta). The Veda rightly insists that every earnest seeker after Divine life must therefore sprinkle his food with the mantra: By Rta do Isprinkle my satya (existence or being)—and By SATYA do I sprinkle my DHARMA : SATYAMTVA RTENA PARISINCAMI, RTVAMTVA SATYENA PARISINCAMI-. This is the basic truth about food.

It follows without saying that questions regarding the eating of animal food etc ...are to be discovered by each individual as not conducive to the spiritual development though they may be compromise

formula for those who follow the paths other than spirituality. The subtler and spiritual the food that one eats the more perfect becomes his capacity to respond to the Divine force that is always flowing into one. Indeed in a sense it is that which gives such power to spiritual men. It may be perfectly possible that some may claim the spiritual force to be capable of changing the bad food into excellent material or transform blood and wine into spiritual food :—the veera-marga trantrics have held that the pancamakara could be utilized and sublimated into spiritual forces. Mada, matsya and mansa are said to be necessities on the sadhana. Such a view however tempts the worst possible developments and should not be undertaken.

We are seeking the Ultimate. The Ultimate discards all desires and anything that produces desires or intensifies them must be said to be nishiddha or prohibited. Thus constant Divine thought is necessary and one must receive all that one gets or earns as given by God. The Isavasyopanisad puts it : TENA TYAKTENA BHUNJITHAH— renouncing that any thing is yours (i. e. thinking that everything has come from God as PRASADA,) one should enjoy (be happy) that which is given (YADRCCHA LABHA SANTUSHTI).

This will make all organs, organs of God, oneself

the body of God, and no activities will go perverse or bind one. Desirelessness will be improved and one begins to get the glimpse of the Ultimate in oneself. (Series to be continued)

O O O O

Explaining the rationality of commandment No 5 of Sahaj Marga, the master related a Pauranic legend as following :

'Once Lord Krishna was at play with his sponce Rukmini. Suddenly his eyebrows contracted and his forehead registeed wrinkles expressing anger. The very next moment he smiled, and resumed the play. Rukmini asked as to what the matter was, to which querry the Lord simply replied, "Nothing serious. Two washermen were quarrelling." Dazed Rukmini sought further clarification, and the Lord responded with the fuller story. At a riverside an austere saint was offering prayer Just than a washerman started thrashing clothes in such a way as to drench him out of the prayer. This was the moment when wrinkles appeared on the Lord's forehead. The next moment the saint left the prayer and enterd into an altercation with the washerman. That was the moment which brought the smile on the Lord's face.'

Making the moral more rational, the master continued, "As the entire course of Nature is constituted, there is a reaction to every action. An act of revenge localizes the reaction leaving the rest of the course of Nature free. But if the aspirant (the point of action) if vacuumised, the reaction returns from the whole course of Nature, keeping the aspirant free. Thus revengelessness is in the interest of the spiritual condition of the aspirant, and even in favour of the distribution of real justice to the evil-doer."

Contribution of Sahaj Marga to modern life.

(Shri Suresh Chandra Srivastava M. A.)

Sahaj Marga has the potentialities to become the world religion of tomorrow. It has got the answer to different questions rising in the hearts of men. It has a message for the west, a mission for the East. It contains a philosophy for them, who want to know, a scientific system for them who want to analyse, and a religion to them who seek consolation. Psychological knots are unravelled and the problem of human personality is understood in a better context. Not only a philosophical doctrine but in the spirit of all Indian religions it satisfies social and national requirements of countries. Yet it is free from all such abnormalities and angularities that may arise in the mixture of a social doctrine and a religio-ethical philosophy.

Science dawned with an iconoclastic nature. Traditional Godhead is dethroned. Degeneration prevailing in the name of religion was revealed and destroyed Religion had become dogmatic in East and a power to crush the opponents in the Middle

East and West. Consequently the progress of society was impeded.

But after five hundred years of full sway of science, men have realised that it is not an unmixed good. God has been exiled but with Him have gone all the consolation and faith in the ultimate triumph of good. Reason could cure the ills of the day but it could not strengthen mankind through strong heart, neither could it save life from becoming more and more complex. As a result of it modern world has again lapsed into immorality, cruelty and greed—against which science had raised its banners five hundred years ago.

How Sahaj Marga comes into the picture ? To make the answer more simple we can start from the nature of science. Science is two-fold in its application to life—first Technological and second rational course of thought. The second implies an interpretation and acceptance of some truth in the light of reason.

Sahaj Marga has nothing to say about the technological aspect of science because the person who makes the machinery, matters most. Improve the man, the same machinery will promote good. Let him degenerate and the machinery will smoothen his path of downfall. Hence Sahaj Marga deals with those factors which regulate human soul. It is here

that Sahaj Marga follows the second aspect and acceptance based upon reason.

Sahaj Marga joins with science in removing a Godhead as the source of all creation Yet there must be some source–the prime factor. And it is Energy. What is the form of that Energy, no one knows. Yet all agree to it that Energy is at the root of the creation. Though striking a new path in the world, Sahaj Marga remains Indian in character—its chief glory. It assimilates different strains of thought, for example the Vedantin's concept of God or Braman through 'Neti, Neti'—not only this, not only this. This is expressed through its definition of God as Zero—a Negative Absolute of Energy. From Him how the creation bloomed out is rationally explained. Withal the spiritual progress is not a matter of vague surmise but concrete steps represented scientifically through diagrams.

Experiment and observations — are the trump cards of science. It is this challenge which outfaced religion. And it is here only that Sahaj Marga raises its head triumphantly. Come, whosoever you are. Try and test. Then you follow. You experiment here and once you join this school of spiritual advancement you would be under continuous observation.

The method of spiritual training is also no secret. Instead of giving any other name a scientific term expresses it most-TRANSMISSION All know the power of ether waves. Mountains, oceans, storms, and deserts can not check them. So is the power of Transmission of Sahaj Marga. A person in any part of world can profit by it. All that is required is a good receiver. People are prepared for that too–the details of which I am not going into for fear of length.

Thus Sahaj Marga has helped people of East by weeding out the unnecessary blind faith and out-moded jargon of philosophy. It has interpreted the-Essence of East in a manner which West can understand and follow if it wants to escape the excesses of science.

Though scientific in approach. Sahaj Marga is a religion still. It has preserved still. It has preserved the emotional aspect of man—Devotion is the key to spiritual advancement. And thus it has saved mankind from withering away in the arid regions of dry intellectuality. Man can still feel. His feelings and emotions all have their place in life Renunciation will not solve the problem. Accept life in all its multitudinous aspects, make it worth living. Subside the chaos in the social and individual life. That is the goal Sahaj Marga is bading mankind to.

A God is required. There must be something to reciprocate the human urge for the divine. And, therefore, a God is preserved. Let him govern all Let him dispense justice to men according to their karma. Yet He is not final. Finality is beyond Him. Finality is beyond all-the land of perfect zero !

How masterly Sahaj Marga braves the challenge of science thrown by West : How masterly it explains the mysteries of the creation in scientific manner–a factor of which India has been proud. Thus Sahaj Marga is going to unite the world again–a work which was accomplished by great religions like Buddhism and Christianity.

Sahaj Marga is not without philosophy. It has fulfilled the long-felt need of a dynamic philosophy a philosophical system which is not a mere speculation but a thought, perfected and practised in the life of man and society. Krishna brought forth a dynamic philosophy. So did Buddha, Shanker, Ramanuj and Kabir. A dynamic philosophy has its metaphysical aspect as well as the side of practicability i. e. Sadhana. Sadhana has been the chief characteristic of Indian philosophy. Western philosophy fades into speculation simply on account of its vague application to life. On one side Sahaj Marga propounds a theory of creation, the nature of Ultimate Power and man's relation to It; on the other hand it preaches a clear

method to achieve it. Transmission, obscured by the dust of the fleeting Time, has been revived and remodelled.

Psychological side of man has also not been left untouched. Once I asked our master "What is the concept of fully spiritual a person ?" He gave a very brief reply, the implication of which has been opening unto me as the time passes. "Balanced man" was his answer. And the more I think of the disintegrated or split up personalities of today the more I think of the "Balanced man" A 'balanced man' is an ideal probability – a term expressed in Gita as 'sthitadhi' (स्थितधी). Today man is torn between emotion and reason and a thousand complexes. Sahaj Marga, through Transmission removes the complexes and brings an integration of personality, a task which the whole of psychiatry cannot accomplish.

Today leaders are talking of emotional integration of India. Since the death of Gandhi the bounds of unity of India are weakening. Leaders of today fail to realise that India has been and will ever be a religious country. If there can be any history truely representing this great country, it will be the history of Indian religions. Only on this platform people have freely mixed and exchanged influence. Agastya led the way, Ram followed.

Shanker, Ramanuj, Chaitanya, Guru Nanak, Tuka Ram-all contributed to emotional integration of this country. And Sahaj Marga is treading the same path. Its wide-spread branches are like the arteries and views helping the circulation of blood. North and South always worked together in philosophy and religion. North gives the idea, south gives the commentary. North gives the thought, South gives philosophical system. Thus in Sahaj Marga the heart i. e. North and the Head i. e. South have risen in unison to proclaim the birth of new religion.

And Sahaj Marga gives a new social order too. The structure erected by man was stumbling. Dayanand Saraswati breathed an air of fresh life into it. Gandhi diagnosed its diseases and prescribed treatment. But modern politicians, inorder to bait ballots, harp upon the cure and so never let the society feel itself healthy. With too much preoccupation with social barriers the leaders of today are stregthening them more than levelling them down. But Sahaj Marga is following the new social revolution with calm and slow movements. Class consciousness is merged in deep love for mankind and with all possible unity in diversity a new social body is rising up.

The greatest contribution to come is its

contribution to literature. Words are symbols for thought. They cannot be coined ad. libitum. Often old symbols are given new colour of meaning. Thus they rise in force, meaning and beauty and when a man of literature imbued with new philosophy will sing of the perfect joy and Bliss, a new masterpiece would be born. Ramanuja's system of devotion found out a new beauty in Tulsidas. All the mystic saints and philosophy of Upnishads found a new language in Kabir. Languages are under the plastic stress of Sahaj Marga. Old words are not proving helpful. Thoughts are welling up. With them will rise the language. The vocabulary of languages is increasing. The master poet of the Thought is awaited.

Sahaj Marga has stood up to bring salvation to mankind. Let God bring that day soon when all of us may proudly march from darkness to light, from false to true and from death to immortality.

OOO

My Experiences in the Mission

(Km. Kesar Chaturvedi, M.A.L.T.)

It is true, God helps those who help themselves. When a man's ultimate goal is 'God Realization', Nature creates favourable situations and environment for him to achieve that aim. I was also fortunate enough to have been born in such a family as was always in pursuit of God Realization; and so my heart was naturally inclined towords God. Since I learnt Devnagri script, Ramayan was handed over to me for thorough study, and I read it with whole heart and interest. Ram was my ultimate goal and God. In order to please my God I took so keen an interest in Kirtan and counting beads that I included them in my daily routine. But my urge for God realization remained unsatisfied. After the formalities of Kirtan and counting beads, I studied the book Yogavashishtha and took to Gyan Marga and also practised 'Tatvamasi' and 'Aham Bramhasmi', but it seemed to me that all these things are mere external show and it is impossible to have mastery over any of the natural instincts. Hence my heart could not rest with any of these things. Only a sort of a so-called mechanical practice went on.

But on a most auspicious day, by God's grace my respected father brought real Ram before my eyes. At first, as compared to that most beautiful and heart-arresting figure of Ram which I had seen in pictures and was deeply seated in my eyes, this

Ram of the earth (Sri Babu Ji) could not arrest my attention, but due to him the ecstacy that pervaded in the atmosphere and in my heart impressed me much. Respected Babu Ji gave a sitting. Though I could not feel any thing special in the first sitting, yet it seemed as if my heart and mind were spell-bound. I started to practice meditations as directed by Babu Ji and slowly and steadily went ahead on Sahaj Marga. My mind which was a store-house of good and evil ideas began to feel a sort of solitude (blankness) which did not tease but please the heart. Instead of Ram of the picture's the picture of true Ram (Babu Ji) now made room in my heart.

Now my heart began to shift and drift from external towards internal beauty. The tears in the eyes dried up and the heart began to sob and weep. The wreath of beads fell down from the hands but the heart began to recite the name of Ram. The idea of 'Tatvamasi' and 'Aham Bramhasmi' itself subsided and internal peace and satisfaction took its place. When about six months passed away in the practice of this meditation, I once wrote to Babu Ji and enquired of the signs to make me understand about my progress in this direction. The Respected Master wrote in simple and sweet words that when the divine virtues may begin to develop in you, you may take yourself to be

treading on the right path and from the development of virtues, you may think yourself progressing. I was puffed up with joy to read it. Really what a simple and sure measure it is for judging yourself. An abhyasi can then and only then reach Him when he will mould and make himself like Him, whom he has to get and into whom he has to merge himself to become one with Him. Such a simple and super-knowledge was never brought home to me before this. Many a times I had the privilege of coming in close touch with saints and sadhus of repute and also heard their religious discourses on meditation, salvation etc and thereby got the knowledge of this measure that man's spiritual improvement lies in breaking up domestic bondages and remaining aloof from the world. But here this case is quite different. An abhyasi can go on enjoying natural Bliss of various spiritual stages besides discharging all the domestic duties, taking part in worldly affairs and acquiring Divine virtues. All the worldly cares and anxieties themselves give way by and by and they no longer deviate the abhyasi from the Sahaj Marga. The abhyasi by surrendering himself completely to his Master, experiences unlimited ecstacy, satisfaction and freedom and thus makes a head-way towards the goal of God Realization.

OOO

'सहज-मार्ग' पत्रिका के नियम

—:(—०—):—

१–'सहज मार्ग' प्रति वर्ष चार बार प्रकाशित होता है ।

२–'सहज मार्ग' का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित गूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है ।

३–'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं कहानियों आदि का विषय मुख्यतः आध्यात्मिक एवं साँस्कृतिक होना चाहिए ।

४–लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा । लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वयं लेखक पर होगा ।

५–प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा रोमन लिपि में कागज के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखे अथवा टाइप किये हुए होने चाहिये ।

६–'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नांकित पते पर भेजे जाने चाहियें:—

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
गुप्ता भवन महराजनगर,
लखीमपुर—खीरी (उ० प्र०)

७–'सहज मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते है । विज्ञापन की दर निम्नलिखित है:–

कवर का चौथा पृष्ठ पूरा ३०)	आधा १५)
अन्य साधारण पृष्ठ पूरा २०)	आधा १०)
	चौथाई ६)

८—'सहज मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) है, और एक प्रति का १)